काव्य प्रबन्ध

कपूर ब्रदर्स, श्रीनगर

बन्ध

ीकृत पाठ्य-पुस्तक)

काव्य प्रबन्ध

(कश्मीर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

सम्पादक

प्रो० चमन लाल सप्रू

प्रकाशक

कपूर ब्रदर्स

श्रीनगर (कश्मीर)

KAVYA PRABANDH

•

Approved Text by Kashmir University.

•

Edited by
Professor C. L. Sapru

•

Price : Rupees Four

First Edition 1974

•

Published by :
Kapoor Bros. Booksellers & Publishers
Srinagar (Kashmir)

Printed at :
Badalia Printing Press
Dai Wara, Nai Sarak, Delhi-6

VEENA KOUL

विषय-सूची

●

पूर्वार्ध—महाकाव्यों से

उत्तरार्ध—विविध

●

इस संग्रह के बारे में

हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने के बाद इसके अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र विस्तृत हो गया। कश्मीर, जो कि भारत गणराज्य का एक अटूट अंग है, भी अब हिन्दी प्रचार के कार्य में काफी प्रगति पर है। यहाँ हिन्दी के अध्यापन की सुविधाएँ एम० ए० तक सर्व-सुलभ हो गई हैं। इस पृष्ठभूमि में अपने अध्यापन-अनुभव के आधार पर हमें आधुनिक हिन्दी के एक ऐसे संकलन का अभाव दिखाई देता था, जो बी० ए० एवं प्रभाकर आदि हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के अनुकूल हो। अब तक प्राय: जो संकलन सम्पादित किए जाते थे, उनमें हिन्दी के कवियों की चुनी हुई ऐसी निश्चित रचनाएँ होती थीं जो विद्यार्थियों ने प्राय: अपनी पूर्व कक्षाओं में पढ़ी होती थीं। किन्तु इस संकलन में आपको एक विविधता मिलेगी।

सम्पूर्ण पुस्तक को दो खण्डों में विभाजित किया गया है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकाव्यों, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी और कुरुक्षेत्र में से रोचक और प्रतिनिधि स्थल उद्धृत किए गए हैं। विद्यार्थियों को पहली बार एम० ए० में प्राय: महाकाव्यों को पढ़ने का अवसर मिलता है। हम चाहते हैं कि हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को महाकाव्यों से तनिक परिचय हो जाए। महाकाव्य हमारे साहित्य की एक अमूल्य निधि हैं। इसीलिए उनमें से सुन्दर, रोचक और प्रतिनिधि खण्डों को इस संकलन में उद्धृत किया गया है। प्रत्येक खण्ड के पूर्व कवि-परिचय के अतिरिक्त उद्धृत खण्ड की संक्षिप्त समालोचना की गई है, जिससे विद्यार्थियों को कथा-प्रसंग समझने में सुविधा होगी।

उत्तरार्ध में शेष प्रमुख महाकवियों और आधुनिक प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं को संगृहीत किया गया है। इनमें भी विविधता रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक कविता के अन्त में हमने उस ग्रंथ का नाम दिया है, जिसमें से

उसका चयन किया गया है, इससे छात्रों को उन कवियों की कृतियों का नाम ही याद नहीं रहेगा, अपितु उनके मूल ग्रन्थों को भी देखने की प्रेरणा मिलेगी।

इस संकलन के प्रकाशन में जिस लगन से श्री राजाराम जी कपूर ने कार्य किया उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

—सम्पादक

२७ मई १९७४

पूर्वार्ध

•

महाकाव्यों से

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

परिचय :

जन्म सं० १८८२ निधन सं० २००४

उपाध्यायजी खड़ी बोली की प्रथम धारा के कवि थे। भारतेन्दु के पश्चात् महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य को प्रांजल और नियमित रूप देने का जो आन्दोलन चलाया था, उसके सहयोगियों में से एक 'हरिऔध' जी भी थे। इस प्रकार भारतेन्दु-युग की समाप्ति और द्विवेदी-युग के आरम्भ—अर्थात् सन्धि काल के कवि होने के कारण इनकी रचनाओं में तत्कालीन साहित्य परम्पराओं की प्रत्यक्ष छाप है। इनका जन्म जिला आजमगढ़ में हुआ था। बचपन में उर्दू तथा हिन्दी की शिक्षा ग्रहण करके सरकारी नौकरी प्राप्त कर ली। कानूनगो के पद से अवकाश प्राप्त कर आप साहित्य-साधना में ही जीवन-यापन करने लग गये। नौकरी के बीच भी आपकी यह साधना निरन्तर चलती ही रही थी। अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् इन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में हिन्दी अध्यापक के सम्मानित पद पर नियुक्त किया गया। वर्षों तक वहाँ कार्य करने के पश्चात् लगभग सन् १८३८ में ये वहाँ से भी अवकाश प्राप्त करके आराम पाने लगे।

हरिऔध जी ब्रज, खड़ी बोली और संस्कृत के समान रूप से विद्वान् थे। इन्होंने सर्वप्रथम ब्रज में ही लिखना आरम्भ किया था, किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से बाद में उन्होंने खड़ी बोली को ही अपनी रचनाओं का माध्यम बना लिया। आप खड़ी बोली के प्रथम महा-काव्यकार हैं। आपकी कविता में ओज और प्रवाह है। संस्कृतनिष्ठ भाषा प्रयोग में लाते हैं। संस्कृत के प्रमुख छन्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं।

'प्रियप्रवास'—जो कि खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है—में से प्रस्तुत संकलन के लिये चयन हुआ है। कृष्ण के विरह में गोपियों की वेदना, समग्र वृन्दावन की प्रकृति में वह उदासीनता, यशोदा का पुत्र-प्रेम तथा वात्सल्य रस आदि वर्णन इस काव्य की प्रमुख घटनाएँ हैं। कवि ने इस प्रकार के वर्णनों में वियोग और वात्सल्य आदि के सजीव चित्र उपस्थित कर दिये हैं। इन वर्णनों के साथ-साथ प्रकृति-चित्रण भी बड़ा रमणीय बन पड़ा है।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर वृन्दावन के लोगों में उदासी छा जाती है। आवासों में, परिसरों में, बैठकों में, बाज़ारों में, दुकानों में, मन्दिरों में और कुंजों में सर्वत्र कृष्ण ही की चर्चा रहती है। नारियाँ घरों में, छतों पर तथा गवाक्षों से उद्विग्न होकर कृष्ण के मार्ग को देखती रहती थीं। अगर काग आकर आँगन में बैठ जाता या मथुरा से कोई आ जाता तो सब नर-नारियाँ उत्सुक होकर कृष्ण का वृत्तान्त जानने के लिये, उसे घेर लेतीं। विरह से व्याकुल गोपियों का मन घर के काम-काज में नहीं लगता था तथा दधि-मंथन का मधुर शब्द भी उन्हें खाने दौड़ता था।

षष्ठ सर्ग का यह वियोग-वर्णन और वियुक्त गोपियों तथा यशोदा के दुःखी अंतःकरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जैसा चित्रित किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वियोग-प्रधान इस महाकाव्य का षष्ठ सर्ग इसी दृष्टि से प्रस्तुत संकलन में लिया गया है।

इसी प्रकार अष्टम सर्ग में भगवान कृष्ण की शिशुकालीन ललित लीलाएँ, उन पर मातृ हृदय का गद्गद् होना और बलि-बलि जाना, तत्पश्चात् ऐसे लाडले के ब्रज से चले जाने से समग्र प्राणियों के दुःखी अन्तः-करण के उच्छ्वास आदि का रमणीय चित्र उपस्थित किया गया है।

वात्सल्य रस का यह स्रोत इस सर्ग में निर्मल धारा में बहता हुआ, सहृदयों को आत्म-विभोर कर देता है। इसी दृष्टि से अष्टम सर्ग की इस महाकाव्य में अपनी एक विशेषता है, जिसके कारण हमने इसे प्रस्तुत संकलन में स्थान दिया है।

———

प्रिय प्रवास

षष्ठ सर्ग से

धीरे धीरे दिन गत हुआ पद्मिनी नाथ डूबे।
दोषा आई फिर गत हुई दूसरा वार आया।
यों ही बीतीं विपुल घड़ियाँ औ' कई वार बीते।
कोई आया न मधुपुर से औ' न गोपाल आये॥

ज्यों ज्यों जाते दिवस चित का क्लेश था वृद्धि पाता।
उत्कण्ठा थी अधिक बढ़ती व्यग्रता थी सताती।
होतीं आके उदय उर में घोर उद्विग्नताएँ।
देखे जाते सकल ब्रज के लोग उद्भ्रान्त से थे॥

खाते पीते गमन करते बैठते और सोते।
आते जाते वन अवनि में गोधनों को चराते।
लेते देते सकल ब्रज की गोपिका गोपजों के।
जी में होता उदय यह था क्यों नहीं श्याम आये॥

दो प्राणी भी ब्रज-अवनि के साथ जो बैठते थे।
तो आने की न मधुवन से बात ही थे चलाते।
पूछा जाता प्रिय थल मिथः व्यग्रता से यही था।
दोनों प्यारे कुँवर अब भी लौट के क्यों न आये॥

आवासों में सुपुरिसर में द्वार में बैठकों में।
बाजारों में विपणि सब में मन्दिरों में मठों में।
आने ही की न ब्रज धन के बात फैली हुई थी।
कुंजों में औ' पथ अ-पथ में बाग में औ' वनों में॥

आना प्यारे महर सुत को देखने के लिये ही।
कोसों जाती प्रतिदिन चली मण्डली उत्सुकों की।
ऊँचे ऊँचे तरु पर चढ़े गोप छोटे अनेकों।
घण्टों बैठे तृषित दृग से पंथ को देखते थे।।

आके बैठी निज सदन की मुक ऊँची छतों में।
झोखों में औ' पथ पर बने दिव्य वातायनों में।
चिन्ता-मग्ना विवश विकला उन्मना नारियों की।
दो ही आँखें सहस बन के देखती पंथ को थीं।।

आके कागा यदि सदन में बैठता था कहीं भी।
तो तन्वङ्गी उस सदन की यों उसे थी सुनाती।
जो आते हों कुँवर उड़ के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ' भात दूँगी।।

आता कोई मनुज मथुरा-ओर से जो दिखाता।
नाना बातें स-दुख उस से पूछते तो सभी थे।
यों ही जाता पथिक मथुरा ओर भी जो जनाता।
तो लाखों ही सकल उससे भेजते थे सँदेशे।।

फूलों पत्तों सकल तरुओं औ' लता वेलियों से।
आवासों से ब्रज अवनि से पंथ की रेणुओं से।
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से।
मेरे प्यारे कुँवर अब भी क्यों नहीं गेह आये।।

यदि दिन कट जाता बीतती थी न दोषा।
यदि निशि टलती थी वार था कल्प होता।
पल पल अकुलाती ऊबती थी यशोदा।
रट यह रहती थी क्यों नहीं श्याम आये।।

प्रति दिन कितनों को पंथ में भेजती थीं।
निज प्रिय सुत आना देखने के लिये ही।
नियत यह जताने के लिये थे अनेकों।
सकुशल गृह दोनों लाडिले आ रहे हैं।।

दिन दिन भर वे आ द्वार पै बैठती थीं।
प्रिय पथ लखते ही वार को थीं बितातीं।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थीं।
मम सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया॥

अति अनुपम मेवे औ' रसीले फलों को।
वह मधुर मिठाई दुग्ध को व्यञ्जनों को।
पथ श्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को।
प्रति दिन रखती थीं भाजनों में सजा के॥

जब कुँवर न आते वार भी बीत जाता।
तब बहु दुःख पा के बाँट देतीं उन्हें थीं।
दिन-दिन उर में थी वृद्धि पाती निराशा।
तम निविड़ दृगों के सामने हो रहा था॥

जब पुर वनिता आ पूछती थीं सँदेसा।
तब मुख उनका थीं देखतीं उन्मना हो।
यदि कुछ कहना भी वे कभी चाहती थीं।
न कथन कर पातीं कंठ था रुद्ध होता॥

यदि कुछ समझातीं गेह की सेविकाएँ।
बन विकल उसे थीं ध्यान में भी न लातीं।
तन सुधि तक खोती जा रही थीं यशोदा।
अतिशय विमना औ' चिन्तिता हो रही थीं॥

यदि दधि मथने को बैठती दासियाँ थीं।
मथन-रव उन्हें था चैन लेने न देता।
यह कह कह के ही रोक देतीं उन्हें वे।
तुम सब मिल के क्या कान को फोड़ दोगी॥

दुःख वश धंधे बन्द से हो गये थे।
गृह जन मन मारे काल को थे बिताते।
हरि-जननि व्यथा से मौन थीं शारिकायें।
सकल सदन में ही छा गई थी उदासी॥

प्रति दिन कितने ही देवता थीं मनातीं।
बहु यजन करातीं विप्र के वृन्द से थीं।
नित घर पर कोई ज्योतिषी थीं बुलातीं।
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा॥

सदन ढिग कहीं जो डोलता पत्र भी था।
निज श्रवण उठाती थीं समुत्कण्ठिता हो।
कुछ रज उठती जो पंथ के मध्य यों ही।
वन-अयुत-दृगी तो वे उसे देखती थीं॥

गृह दिशि यदि कोई शीघ्रता साथ आता।
तब उभय करों से थामतीं वे कलेजा।
जब वह दिखलाता दूसरी ओर जाता।
तब हृदय-करों से ढाँपती थीं दृगों को॥

मधुवन पथ से वे तीव्रता साथ आता।
यदि नभ-तल में थीं देख पातीं पखेरू।
उस पर कुछ ऐसी दृष्टि तो डालती थीं।
लख कर जिसको था भग्न होता कलेजा॥

पथ पर न लगी थी दृष्टि ही उत्सुका हो।
न हृदय तल ही की लालसा वर्द्धिता थी।
प्रतिपल करता था लाडिलों की प्रतीक्षा।
थक थक तन रोआँ नंद की कामिनी का॥

प्रतिपल दृग देखा चाहते श्याम को थे।
छन छन सुधि आती श्यामली मूर्ति की थी।
प्रति निमिष यही थीं चाहतीं नंदरानी।
निज वदन दिखावे मेघ सी कांतिवाला॥

अष्टम सर्ग से

जननि-मानस-पुण्य पयोधि में।
लहर एक उठी सुख-मूल थी।
वह सुवासर था ब्रज के लिये।
जब चले घुटनों ब्रज-चन्द थे।।

उमगते जननि मुख देखते।
किलकते हँसते जब लाडिले।
अजिर में घुटनों चलते रहे।
वितरते तब भूरि विनोद थे।।

विमल-व्योम-विराजित चन्द्रमा।
सदन शोभित दीपक की शिखा।
जननी अंक विभूषण के लिये।
परम कौतुक की प्रिय वस्तु थी।।

नयन रंजन अंजन मंजु सी।
छविमयी रज श्यामल गात की।
जननि थी कर से जब पोंछती।
उलहती तब वेलि विनोद की।।

जब कभी कुछ लेकर पाणि में।
वदन में ब्रज नन्दन डालते।
चकित लोचन से अथवा कभी।
निरखते जब वस्तु विशेष को।।

प्रकृति के नख थे तब खोलते।
विविध ज्ञान मनोहर ग्रन्थि को।
दमकती तब थी द्विगुणी शिखा।
महरि मानस मंजु प्रदीप की।।

कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के।
चरण भू पर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ कटि किंकिणी।
ध्वनित हो उठने गृह में लगी।।

ठुमुकते गिरते पड़ते हुए।
जननि के कर की उँगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे।
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था।।

क्वणित हो करके कटि किंकिणी।
विदित थी करती इस बात को।
चकित कारक पंडित मण्डली।
परम अद्भुत बालक है यही।।

कलित नूपुर की कल-वादिता।
जगत् को यह थी जतला रही।
कब भला न अजीव सजीवता।
परस के पद पंकज पा सके।।

ऐसा प्यारा विधु छवि जयी आलयों का उजाला।
शोभावाला अतुल-सुख का धाम माधुर्यशाली।
जो पाया था सुअन सुभगा नन्द-अर्द्धांगिनी ने।
तो यत्नों के बल न उनका कौन था पुण्य जागा।।

देखा होगा जिस सु-तिय ने नन्द के गेह जा के।
प्यारी लीला जलद-तन की मोद नन्दाङ्गना का।
कैसे पाते विशद फल हैं पुण्यकारी मही में।
जाना होगा इस विषय को तद्गता हो उसी ने।।

मैं दैवी की इस अनुपमा मुग्धता में रसों की।
नाना धारें समुद लख थी सिक्त होती सुधा से।
आँखों में है भगिनि, अब भी दृश्य न्यारा समाया।
हा ! भूली हूँ न अब तक मैं आत्म उत्फुल्लता को॥

जाना जाता सखि यह नहीं कौन सा पाप जागा।
सोने ऐसा सुख-सदन जो आज है ध्वंस होता।
अंगों में जो परम सुभगा थी न फूली समाती।
हा ! पाती हूँ विरह-दव में दग्ध होती उसी को॥

हा ! क्या सारे दिवस सुख के हो गये स्वर्गगामी।
या डूबे जा सलिल-निधि के गर्भ में वे दुखी हो।
आके छाई महिषि-मुख में म्लानता है कहाँ की।
हा ! देखूँगी न अब उसको क्या खिले पद्म सा मैं॥

सारी बातें दुखित वनिता की भरी दुःख-गाथा।
धीरे धीरे श्रवण करके एक बाला प्रवीणा।
हो हो खिन्ना विपुल पहले धीरता-त्याग रोई।
पीछे आहें भर विकल हो यों व्यथा साथ बोली॥

निकल के निज सुन्दर सदन से।
जब लगे ब्रज में हरि घूमने।
जब लगी करने अनुरञ्जिता।
स्व-पथ को पद पंकज लालिमा॥

तब हुई मुदिता शिशु-मण्डली।
पुर-वधू मुखिता बहु हर्षिता।
विविध कौतुक और विनोद की।
विपुलता ब्रज-मण्डल में हुई॥

पहुँचते जब थे गृह में किसी।
व्रज लला हँसते मृदु बोलते।
ग्रहण थीं करतीं अति चाव से :
तब उन्हें सब सदन-निवासिनी ॥

मधुर भाषण से गृह-बालिका।
अति समादर थी करती सदा।
सरस माखन औ' दधि-दान से।
मुदित थी करती गृह-स्वामिनी ॥

कमल लोचन भी कल उक्ति से।
सकल को करते अति मुग्ध थे।
कलित क्रीडन नूपुर नाद से।
भवन भी बनता अति भव्य था ॥

स-बलराम स-बालक मण्डली।
विहरते बहु मन्दिर में रहे।
विचरते हरि थे अकले कभी।
रुचिर वस्त्र विभूषण से सजे ॥

ऐसे सारी व्रज-अवनि के एक ही लाडिले को।
छीना कैसे किस कुटिल ने क्यों कहाँ कौन बेला।
हा ! क्यों घोला गरल उसने स्निग्धकारी रसों में।
कैसे छींटा सरस कुसुमोद्यान में कण्टकों को ॥
लीलाकारी ललित-गलियों, लोभनीयालयों में।
क्रीड़ाकारी कलित किसने केलि वाले थलों में।
कैसे भूला व्रज-अवनि को कूल को भानुजा के।
क्या थोड़ा भी हृदय मलता लाडिले का न होगा ॥

क्या देखूँगी न अब कढ़ता इन्दु को आलयों में।
क्या फूलेगा न अब गृह में पद्म सौन्दर्यशाली।
मेरे खोटे दिवस अब क्या मुग्धकारी न होंगे।
क्या प्यारे का अब न मुखड़ा मन्दिरों में दिखेगा॥

हाथों में ले मधुर दधि को दीर्घ उत्कण्ठता से।
घण्टों बैठी कुँवर-पथ जो आज भी देखती है।
हा! क्या ऐसी सरल-हृदया सदन की स्वामिनी की।
वांछा होगी न अब सफला श्याम को देख आँखों॥

भोली भाली सुख सदन की सुन्दरी बालिकाएँ।
जो प्यारे के कल कथन की आज भी उत्सुका हैं।
क्रीड़ाकांक्षी सकल शिशु जो आज भी हैं स-आशा।
हा! धाता, क्या न अब उनकी कामना सिद्ध होगी॥

प्रात:-वेला यक दिन गई नन्द के सदन मैं थी।
बैठी लीला महरि अपने लाल की देखती थीं।
न्यारी क्रीड़ा समुद करके श्याम थे मोद देते।
होठों में भी विलसित सिता सी हँसी सोहती थी॥

ज्यों ही आँखें मुझ पर पड़ी प्यार के साथ बोलीं।
देखो कैसा सँभल चलता लाडिला है तुम्हारा।
क्रीड़ा में है निपुण कितना है कलावान कैसा।
पाके ऐसा वर सुअन मैं भाग्यमाना हुई हूँ॥

होवेगा सो सुदिन जब मैं आँख से देख लूँगी।
पूरी होती सकल अपने चित्त की कामनाएँ।
ब्याहूँगी मैं जब सुअन को औ' मिलेगी वधूरी।
तो जानूँगी अमर पुर की सिद्धि है सदन आई॥

एसी बातें उमग कहती प्यार से थी यशोदा।
होता जाता हृदय उसका उत्स आनन्द का था।
हा ! ऐसे ही हृदय-तल में शोक है आज छाया।
रोऊँ मैं या यह सब कहूँ या मरूँ क्या करूँ मैं।।

यों ही बातें विविध कह के कष्ट के साथ रोके।
आवेगों से व्यथित व्रज के दुःख से दग्ध हो के।
सारे प्राणी व्रज-अवनि के दर्शनाशा सहारे।
प्यारे से हो पृथक् अपने वार को थे बिताते।।

नवम सर्ग से

जो राज-पंथ वन-भूतल में बना था।
धीरे उसी पर सधा रथ जा रहा था।
हो हो विमुग्ध रुचि से अवलोकते थे।
ऊधो छटा विपिन की अति ही अनूठी।।

परन्तु वे पादप में प्रसून में।
फलों दलों वेलि-लता समूह में।
सरोवरों में सरि में सु-मेरु में।
खगों मृगों में वन में निकुञ्ज में।।

बसी हुई एक निगूढ़-खिन्नता।
विलोकते थे निज सूक्ष्म दृष्टि से।
शनैः शनैः जो बहु गुप्त रीति से।
रही बढ़ाती उर की विरक्ति को।।

प्रशस्त शाखा तरु-वृन्द की उन्हें।
प्रतीत होती उस हस्त तुल्य थी।
स-कामना जो नभ ओर हो उठा।
विपन्न-पाता-परमेश के लिये।।

कलिन्दजा के सुप्रवाह की छटा।
विहंग-क्रीड़ा कल-नाद माधुरी।
उन्हें बनाती न अतीव मुग्ध थी।
ललामता-कुंज-लता-वितान की॥

सरोवरों की सुषमा स-कंजता।
सु-मेरु औ' निर्झर आदि रम्यता।
न थी यथातथ्य उन्हें विमोहती।
अनन्त सौन्दर्य-मयी वनस्थली॥

कोई कोई विटप फल थे बारहों मास लाते।
आँखों द्वारा असमय फले देख ऐसे द्रुमों को।
ऊधो होते भ्रम पतित थे किन्तु तत्काल ही वे।
शंकाओं को स्वमति बल औ' ज्ञान से थे हटाते॥

उसी दिशा से जिस ओर दृष्टि थी।
विलोक आता रथ में स-सारथी।
किसी किरीटी पट-पीत-गौरवी।
सुकुण्डला श्यामल-काय पान्थ को॥

अतीव उत्कण्ठित ग्वाल बाल हो।
सवेग जाते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे।
न देखते थे जब वे मुकुन्द को॥

अनेक गायें तृण त्याग दौड़तीं।
सवत्स जाती वर-यान पास थीं।
परन्तु पाती जब थीं न श्याम को।
विषादिता हो पड़ती नितान्त थीं॥

अनेक-गायों बहु-गोप-बाल की।
विलोक ऐसी करुणामयी दशा।
बड़े-सुधी-ऊधव चित्त मध्य भी।
स-खेद थी अंकुरिता अधीरता॥

समीप ज्यों ज्यों हरि-बंधु-यान के।
सगोष्ठ था गोकुल ग्राम आ रहा।
उन्हें दिखाता निज-गूढ़ रूप था।
विषाद त्यों-त्यों बहु मूर्तिमन्त हो॥

दिनान्त था ये दिननाथ डूबते।
स-धेनु आते गृह ग्वाल-बाल थे।
दिगन्त में गो-रज थी विराजिता।
विषाण नाना बजते स-वेणु थे॥

खड़े हुए थे पथ गोप देखते।
स्वकीय नाना पशु-वृन्द का कहीं।
कहीं उन्हें थे गृह-मध्य बाँधते।
बुला बुला प्यार उपेत कण्ठ से॥

घड़े लिये कामिनियाँ, कुमारियाँ।
अनेक कूपों पर थीं सुशोभिता।
पधारती जो जल ले स्व-गेह थीं:
बजा बजा के निज नूपुरादि को॥

कहीं जलाते जन गेह दीप थे।
कहीं खिलाते पशु को स-प्यार थे।
पिला पिला चंचल वत्स को कहीं।
पयस्विनी से पय थे निकालते॥

मुकुन्द की मंजुल कीर्ति गान की।
मची हुई गोकुल मध्य धूम थी।
स-प्रेम गाती जिसको सदैव थी।
अनेक-कर्माकुल प्राणि-मण्डली॥

हुआ इसी काल प्रवेश ग्राम में।
शनैः-शनैः ऊधव दिव्य-यान का।
विलोक आता जिसको, समुत्सुका।
वियोग-दग्धा जन-मण्डली हुई॥

जहाँ लगा जो जिस कार्य में रहा।
उसे वहाँ ही वह छोड़ दौड़ता।
समीप आया रथ के प्रमत्त सा।
विलोकने को घन-श्याम माधुरी॥

विलोकते जो पशु-वृन्द पथ थे।
तजा उन्होंने पथ का विलोकना।
अनेक दौड़े तज धेनु बाँधना।
अबाधिता पावस आगमोपमा॥

रहे खिलाते पशु धेनु-दूहते।
प्रदीप जो थे गृह-मध्य बालते।
अधीर हो वे निज कार्य्य त्याग के।
स-वेग दौड़े वदनेन्दु देखने॥

निकालती जो जल कूप से रही।
स-रज्जु सो भी तज कूप में घड़ा।
अतीव हो आतुर दौड़ती गई।
व्रजांगना वल्लभ को विलोकने॥

तजा किसी ने जल से भरा घड़ा।
उसे किसी ने शिर से गिरा दिया।
अनेक दौड़ीं सुधि गात की गँवा।
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने॥

वयस्क बूढ़े पुर-बाल बालिका।
सभी समुत्कण्ठित औ' अधीर हो।
स-वेग आये ढिग मंजु यान के।
स्व-लोचनों की निधि-चारु लूटने॥

उमंग-डूबी अनुराग से भरी।
विलोक आती जनता समुत्सुका।
पुनः उसे देख हुई प्रवंचिता।
महा-मलीना विमनाति-कष्टिता॥

अधीर होने हरि-बन्धु भी लगे।
तथापि वे छोड़ सके न धीर को।
स्व-यान को त्याग लगे प्रबोधने।
समागतों को अति-शांत भाव से॥

यों ही प्रबोध करते पुरवासियों का।
प्यारी-कथा परम-शांत-करी सुनाते।
आये ब्रजाधिप-निकेतन पास ऊधो।
पूरा प्रसार करती करुणा जहाँ थी॥

करुण-नयन वाले खिन्न उद्विग्न अंवे।
नृपति सहित प्यारे बंधु औ' सेवकों के।
सुअन-सुहृद-ऊधो पास आये यहाँ ही।
फिर सदन सिधारे वे उन्हें साथ लेके॥

सुफलक-सुत ऐसा ग्राम में देख आया।
यक-जन मथुरा ही से बड़ा बुद्धिशाली।
समधिक चित-चिंता गोपजों में समाई।
सब-पुर-उर शंका से लगा व्यग्र होने॥

पल पल अकुला के दीर्घ-संदिग्ध हो के।
विचलित चित से थे सोचते ग्रामवासी।
वह परम अनूठे-रत्न आ ले गया था।
अब वह ब्रज आया कौन सा रत्न लेके॥

— —

मैथिलीशरण गुप्त

परिचय :

जन्म—सन् १८८६ निधन—सन् १९६४

आपका जन्म सन् १८८६ में चिरगाँव जिला झाँसी में हुआ था। आपके पिता सेठ श्री रामचरण गुप्त भी एक अच्छे कवि थे। इसलिए उनसे कविता करने की प्रेरणा मिली और प्रोत्साहन आचार्य द्विवेदी जी से प्राप्त हुआ। काफी वर्षों तक आप संसद्-सदस्य रहे हैं। इनका देहान्त सन् १९६४ ई० में हुआ।

"गुप्त जी आधुनिक हिन्दी कविता के एक सजीव प्रकाश-स्तम्भ हैं। उनकी काव्य भारती के दर्शन इस शताब्दी के आरम्भ से ही होने लगे थे और उनकी वीणा आज भी अनवरत रूप से झंकृत हो रही है।"

काव्य-कृतियों का वर्गीकरण :—

(क) प्रबन्ध काव्य :—१. खण्ड काव्य :—रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत भारती, किसान, शकुन्तला, पंचवटी, अनघ, विपथगा, शक्ति, विकट भट, द्वापर, सिद्धराज, नहुष, हिडम्बा।

२. महाकाव्य :—साकेत और जयभारत।

(ख) मुक्तक काव्य :—पद्य प्रबन्ध, पत्रावली, हिन्दू, मंगल घट।

(ग) गीत काव्य :—वैतालिक, झंकार, स्वदेश संगीत, कुणाल गीत।

साकेत :

'साकेत' गुप्त जी की श्रेष्ठतम कृति है। यह एक नई प्रेरणा और नई शैली से लिखा हुआ रामचरित काव्य है। इसे 'अभिनव रामचरित मानस' की संज्ञा दी जा सकती है।

'साकेत' की प्रेरणा बालमीकि और भवभूति जैसे महाकवि द्वारा उपेक्षिता उर्मिला ही है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने "काव्यों की उपेक्षिताएँ" लेख के

द्वारा जिस तथ्य की ओर इंगित किया था उसका प्रबल समर्थन आचार्य द्विवेदी जी ने "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" लेख द्वारा किया था। यही बीज वस्तुतः साकेत रूपी वर वृक्ष के रूप में विकसित हुआ है। साकेत की रचना में द्विवेदी जी की प्रेरणा स्वीकार करते हुए कवि ने स्वयं लिखा है :

"करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद ?
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।"

प्रस्तुत संकलन के लिये साकेत के अष्टम और नवम सर्ग से चयन हुआ है। अष्टम सर्ग में सीता जी को पर्णकुटी में निवास करते हुये स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करते हुए दिखाया गया है। इस प्रकार गुप्त जी गान्धीवादी प्रभाव से नहीं बच पाये हैं। इसी सर्ग में राम के मुख से हम उनके अवतार लेने का कारण जानते हैं :

"भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

भरत के नेतृत्व में जब सारा साकेत-समाज श्री रामचन्द्र की कुटिया के सामने विराजमान होता है तो कैकेयी भी अपने लाँछन का स्पष्टीकरण करती है और अपने को धिक्कारती है, किन्तु समस्त साकेत-समाज उसकी महानता को समझ कर प्रभु (श्री रामचन्द्र जी) के साथ चिल्ला उठता है :

"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"

कवि का सम्पूर्ण ध्यान उर्मिला पर केन्द्रित है और वास्तव में राम-भक्ति के बहाने उर्मिला के करुण प्रसंग को छेड़ने के लिए ही साकेत की रचना हुई है। नवम सर्ग में उर्मिला के विरह का विशद रूप से वर्णन किया गया है। यही वास्तव में 'साकेत' का सबसे सुन्दर सर्ग है। वाल्मीकि और भवभूति के हृदय को जो उर्मिला पिघला न सकी, वही साकेतकार के हृदय को करुणा से आप्लावित कर गई है। "उर्मिला के विरह-वर्णन में कवि की

प्राचीनता भी है और नवीनता भी, गतानुगतिकता भी है और मौलिकता भी। 'साकेत' की उर्मिला प्राचीन विरहिणी नायिकाओं की भाँति आत्म-केन्द्रित या स्वार्थिनी नहीं है। वह वास्तव में प्रिय-प्रवास की ही भाँति (हरिऔध जी ने ही यह नई दिशा दिखाई थी) परदुःखकातर, सहानुभूति-शीला और परमार्थिनी भी है। उदाहरण के लिए उसका उपवन का पौधा न काटने कतरने का आदेश देना, पिंजरे में बन्दी पक्षियों को उड़ा देना, बात करना और अपने दुःख को भूलने के लिए यह कहना—

"सुख दे सकते हैं दुखी जन ही मुझे इन्हें यदि मेटूँ।
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ?

उर्मिला को परमार्थिनी ही सिद्ध करता है। बड़ा कोमल, बड़ा सुन्दर और आदर्श रूप विरहिणी उर्मिला का 'साकेत' में चित्रित हुआ है।"

साकेत के कारण गुप्त जी सदैव साहित्य-जगत् में अमर हैं।

———

साकेत

(उर्मिला विरह)

नवम सर्ग से

अवध को अपनाकर त्याग से,
वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।
भरत ने उनके अनुराग से,
भवन में वन का व्रत ले लिया !
स्वामि-सहित सीता ने
नन्दन माना सघन-गहन कानन भी,
उर्मिला वधू ने वन
किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी !
अपने अतुलित कुल में
प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल-बाला ने
अश्रु सलिल से समस्त धो डाला।
भूल अवधि-सुध प्रिय से
कहती जगती हुई कभी—'आओ !'
किन्तु कभी सोती तो
उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ !'
मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप !
आँखों में प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !

आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान;
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्म ज्ञान!

× × ×

अरी, व्यर्थ है व्यञ्जनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई?
वही पाक है, जो बिना भूख भावे,
बता किन्तु तू ही, उसे कौन खावे?
बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिये एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना?

× × ×

प्रोषित-पतिकायें हों
जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ,
सम दुःखिनी मिलें तो
दुःख बँटे, जा, प्रणय-पुरस्सर ले आ।

× × ×

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी!

ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उसे उष्ण रक्खेगी मेरी तपन-मनी!
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!

अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंचा-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझ में उपल-खनी,
तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी पाऊँ प्राण-धनी!

× × ×

अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अंग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज!

× × ×

आ जा, मेरी निंदिया गूँगी!
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर चन्द खिलौना दूँगी!
प्रिय के आने पर आवेगी,
अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी।
पर यदि आज उन्हें लावेगी,
तो तुझ से ही लूँगी!
आ जा, मेरी निंदिया गूँगी!
पलक-पाँवड़ों पर पद रख तू,
तनिक सलोना रस भी चख तू,
आ, दुखिया की ओर निरख तू,
मैं न्योंछावर हूँगी।
आ जा, मेरी निंदिया गूँगी!

× × ×

कहती मैं चातकि, फिर बोल,
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकती यदि मोल!
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल?
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल!

जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं दिल्ल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल।
न कर वेदना-सुख से वंचित, बढ़ा हृदय-हिन्दोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल।

× × ×

चातकि, मुझ को आज ही हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान!

× × ×

मेरी ही पृथिवी का पानी,
ले ले कर यह अंतरिक्ष सखि, आज बना है दानी!
मेरी ही धरती का धूम,
बना आज आली, घन घूम।
गरज रहा गज-सा झुक झूम,
ढाल रहा मद मानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।
अब विश्राम करें रवि-चन्द्र;
उठें नये अंकुर निस्तन्द्र;
वीर, सुनाओ निज मृदुमन्द्र,
कोई नई कहानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।
बरस घटा, बरसूँ मैं संग;
सरसें अवनी के सब अंग;
मिले मुझे भी कभी उमंग,
सबके साथ सयानी:
मेरी ही पृथिवी का पानी।

× × ×

दरसो परसो घन, बरसो,
सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो।
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़कर पावन सावन, बरसो।
भाद्र-भद्र आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वाति-घन, बरसो।
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन, बरसो।
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, अयि अग्रस्तन, बरसो।
गत सुकाल के प्रत्यावर्त्तन हे शिखि नर्तन, बरसो।
जड़ चेतन में बिजली भर दो ओ उद्बोधन, बरसो।
चिन्मय बनें हमारे मृण्मय पुलकांकुर बन, बरसो।
मन्त्र पढ़ो, छींटे दो, जागे सोये जीवन, बरसो।
घट पूरो त्रिभुवन मानस रस, कन कन छन छन, बरसो।
आज भीगते ही घर पहुँचें, जन जन के जन, बरसो।

× × ÷

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये!

× × ×

चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभंग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।
प्रियतम प्रभु के संग आयेंगे तब हे सजनी,
अब दिन पर दिन गिनो और रजनी पर रजनी!
पर पल पल ले रहा यहाँ प्राणों से टक्कर,
कलह मूल यह भूमि लगावे चौदह चक्कर!

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
वल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हर नेत्र निहारो!
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो!

× × ×

पैठी है तू षट् पदी, निज सरसिज में लीन;
सप्तपदी देकर यहाँ वैठी मैं गति-हीन!

× × ×

अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैंने लिया!
दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया, रो दिया!

× × ×

अब जो प्रियतम को पाऊँ!
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊँ।
ऊषा सी आई थी जग में, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ!
श्रान्त पवन-से वे आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ।
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ!
इधर अनल है और उधर जल, हाय किधर मैं जाऊँ!
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हा हा खाऊँ?

× × ×

मेरे चपल यौवन-बाल !

अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहन के मणि-माल।
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य-रसाल,
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।
मन पुजारी और तन इस दुखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

× × ×

लाना, लाना, सखि, तूली !
आँखों में छवि भूली।

आ अंकित कर उसे दिखाऊँ,
इस चिन्ता से निष्कृति पाऊँ,
डरती हूँ, फिर भूल न जाऊँ,

मैं हूँ भूली भूली।
लाना, लाना, सखि, तूली !

जब जल चुकी विरहिणी बाला,
बुझने लगी चिता की ज्वाला,
तब पहुँचा विरही मतवाला.

सती-हीन ज्यों शूली।
लाना, लाना, सखी तूली !

झुलसा तरु मरमर करता था,
झड़ निर्झर झर झर करता था,
हत विरही हरहर करता था,

उड़ती थी गोधूली।
लाना, लाना, सखि, तूली !

ज्यों ही अश्रु चिता पर आया,
उग अंकुर पत्तों से छाया।
फूल वही वदनाकृति लाया,
लिपटी लतिका फूली !
लाना, लाना, सखि, तूली !

× × ×

सिर-माथे तेरा यह दान,
हे मेरे प्रेरक भगवान !
अब क्या मांगूँ भला और मैं फैला कर ये हाथ ?
मुझे भूलकर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ।
मुझे न भूले उनका ध्यान;
हे मेरे प्रेरक भगवान !
डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।
विधि से चलता रहे विधान,
हे मेरे प्रेरक भगवान !
दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय ?
प्रभु की ही इच्छा पूरी हो, जिसमें सब का श्रेय।
यही रुदन है मेरा गान,
हे मेरे प्रेरक भगवान !
अवधि-शीला का उर पर था गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी दृग-जल धार।

———

जयशंकर प्रसाद

परिचय

जन्म सं० १९४६ निधन सं० १९८४

जयशंकर प्रसाद जी का जन्म काशी के प्रसिद्ध व्यापारी बाबू देदकी-प्रसाद के घर हुआ था। इन्होंने आठवीं कक्षा तक स्कूल में शिक्षा पाकर अंग्रेज़ी, संस्कृत, फारसी, बंगला और उर्दू का अध्ययन घर पर ही किया। सत्रह वर्ष की आयु में ही गृहस्थी का बोझ इनके सिर पड़ गया। परिवार सम्बन्धी अनेक उलझनों का सामना करते हुए भी इन्होंने साहित्यिक साधनों में शिथिलता नहीं आने दी। १५ वर्ष की आयु में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था। संक्रान्ति काल के कवि होने के कारण उस समय की साहित्यिक परम्पराओं को भी कुछ काल तक निभाया, किन्तु आगे चल कर आप भाषा, भाव, छन्द आदि में एक नवीन धारा को लेकर अग्रसर हुए। आधुनिक छायावाद का जन्मदाता मी आपको माना जाता है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा विचारात्मक निबन्धों में आप की लेखन-कला समान रूप में प्रस्फुटित हुई है।

आरम्भ से अन्त तक कवि मानव हृदय की अनुभूतियों तथा प्रेम का सफल चित्रकार रहा है। 'चित्राधार' से 'प्रेम पथिक' और 'झरना' से 'आँसू' तथा 'कामायनी' तक कवि छायावाद, रहस्यवाद, प्रेम तथा चिन्तन को लेकर चलता रहा है। कवि प्रसाद मानव हृदय के सच्चे कवि हैं और जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या इन्होंने कलात्मक ढंग से की है। 'कामा-यनी' में आकर कवि भारतीयता, विश्वजनीयता तथा आनन्दवाद के दर्शन भी हमें कराता है, जिसमें दर्शन का मूल तत्त्व करुणा और विश्व प्रेम की भावना ओत-प्रोत है। कवि प्रसाद हिन्दी साहित्य के जाज्वल्यमान कीर्ति-स्तम्भ और सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं।

इनके काव्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—कामायनी, आँसू, लहर, झरना, महाराणा का महत्त्व, प्रेम पथिक, करुणालय, कानन-कुसुम और चित्राधार। कामायनी पर आपको मंगलाप्रसाद पुरस्कार भी मिल चुका है और इस महाकाव्य का यूनेस्को (Unesco) विश्व की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद करा रही है।

प्रस्तुत संकलन में कामायनी के 'चिन्ता' और 'आशा' सर्ग से चयन किया गया है। देव-सृष्टि के जलप्लावन में समा जाने के पश्चात् अकेले मनु हिमालय की उच्च चोटी पर बैठ कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ता में चिन्तन करने लगे। प्रलय का वह भयंकर दृश्य, विलासिता का वह घातक परिणाम और अपने इस सूने जीवन तथा अंधकारपूर्ण भविष्य का चिन्तन करते-करते मनु उद्विग्न हो उठे। चिन्ताओं की उत्ताल तरंगों पर उतरते-तिरते मनु के मस्तिष्क में विचारों का एक ताँता-सा बँध गया। जीवन-मृत्यु, सुख-दुख, आशा और निराशा की काली घटा में बह कर वे भावी जीवन के सम्बन्ध में चिन्तित हो उठे।

प्रथम (चिन्ता) सर्ग में मनु के इन अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण बड़ी सजीवता और मनोवैज्ञानिकता के साथ किया है। 'कामायनी' के तीनों प्रमुख पात्र श्रद्धा, इड़ा और मनु क्रमशः हृदय, बुद्धि और मन के प्रतीक हैं। इससे यहाँ एक ओर हमारे समक्ष सृष्टि के आरम्भ का आख्यान प्रस्तुत होता है, वहाँ मानव मन की आन्तरिक अवस्थाओं का भी परिचय हो जाता है। इस रूपकत्व के आश्रय पर प्रसाद ने मन को बुद्धि के साथ शासन कराने से रोका है। इसके स्थान पर हृदय और बुद्धि का समन्वय उन्होंने श्रेयस्कर माना है, जो आनन्द-लोक की प्राप्ति का मुख्य साधन है। श्रद्धा और मनन (मनु) के सहयोग से मानवता का विकास कवि ने इस रूपक के द्वारा प्रदर्शित किया है जो विशेष रूप से भव्य है।

'चिन्ता' सर्ग में कवि ने चिन्ता का मानवीकरण करते हुए उसका बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया है। वह विश्व की वन-व्याली ज्वालामुखी के विस्फोट का प्रथम कम्पन, अभाव की चपल बालिका, मस्तक की दुष्ट-रेखा, जलमाया की चपल लहर, युग्म-सृष्टि में सुन्दर पाप आदि आदि है।

वह विश्व को मनन भी कराती है। कल्पना के इस सजीव चित्र ने चिन्ता के वर्णन को कला की उच्च भूमि पर स्थापित कर दिया है। इसी प्रकार देव-सृष्टि की विलासिता और प्रलय का वर्णन इस सर्ग में बेजोड़ है।

'चिन्ता' के सर्ग के पश्चात् 'आशा' सर्ग में कवि ने आदि में प्रकृति अनुपम चित्रण किया है। चिन्ता के घनान्धकार में डूबे हुए मनु को अब नई मानव-सृष्टि रचाने की आशा किरण मिली मानो उसकी जीवन-निशा में उषा की सुनहरी रेखाएँ नाच उठीं, उसकी काल-रात्रि अब जल में मग्न हो चली और जय लक्ष्मी का सु-प्रभात सुनहरे तीर बरसाता हुआ प्रकट हुआ। समग्र प्रकृति नूतन राग से चमक उठी। नव प्रकाश कमल पर कल्लोलें करते हुए पिंग-पराग की भाँति नाचने लगा। हिम भी पिघलने लगा, वनस्पतियाँ उभरने लगीं और धरा-वधू भी सिन्धु की शय्या पर मानिनी की तरह ऐंठ कर बैठ गई। मनु की चेतना प्रबुद्ध हुई, प्रकृति के इस नये रूप को देख कर उनके हृदय में आशा की लतिका विकसित हो उठी और वे लगे उस अनन्त महिमा का चिन्तन करने जिसकी अथाह शक्ति से प्रलय और नव-सर्जन का उद्‌गम होता है। इस स्थल पर कवि का दार्शनिक चिन्तन निखर उठता है और वह कह उठता है—'इस महान चराचर प्रपंच का नियंत्रण-कर्त्ता कोई महान है वह कहाँ है? कौन है? और कैसा है?' इस चिन्तन में कवि की जिज्ञासा प्रबल हो उठती है और उसकी चेतना ने अन्त में इस गहन रहस्य के छोर का स्पर्श कर लिया। उसकी उर-वीणा झंकृत हो उठी—'हे विराट्! हे विश्व देव! तुम कुछ हो। मंद, गम्भीर, धीर स्वर में गान करता हुआ सागर भी यही कह रहा है।' आशा सर्ग में कवि की दार्शनिकता और चिन्तन प्रवाह दोनों चमक उठे हैं।

कामायनी

चिन्ता

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह !

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन।

दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता-सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान ।

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर श्मशान;
नीचे प्रलय-सिन्धु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।

उसी तपस्वी-से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।

चिन्ता-कातर वदन हो रहा
पौरुष जिस में ओत प्रोत ;
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत ।

बँधी महा-बट से नौका थी,
सूखे में अब पड़ी रही ;
उतर चला था वह जल-प्लावन,
और निकलने लगी मही ।

निकल रही थी मर्म वेदना,
करुणा विकल कहानी सी ;
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती सी पहचानी सी ।

"ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली ;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप सी मतवाली ।

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी भरी सी दौड़धूप ओ,
जल माया की चल रेखा !

इस ग्रह कक्षा की हलचल री !
तरल गरल लघु लहरी !
जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली, बहरी !
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी !
अरी आधि, मधुमय अभिशाप !
हृदय-गगन में धूमकेतु सी,
पुण्य-सृष्टि में सुन्दर पाप ।

मनन करावेगी तू कितना ?
उस निश्चित जाति का जीव ;
अमर करेगा क्या ? तू कितनी
गहरी डाल रही है नींव।

आह घिरेगी हृदय लहलहे
खेतों पर करका-घन-सी ;
छिपी रहेगी अन्तरतम में
सब के तू निगूढ़ धन सी।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता
तेरे हैं कितने नाम !
अरी पाप है, तू जा, चल, जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते ! बस चुप कर दे ;
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।

× × ×

अरी उपेक्षा भरी अमरते !
री अतृप्ति ! निर्बाध विलास !
द्विधा-रहित अपलक नयनों की
भूख भरी दर्शन की प्यास !

बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,
पुलक स्पर्श का पता नहीं ;
मधुमय चुम्बन कातरतायें
आज न मुख को सता रहीं।

रत्न सौध के वातायन, जिन में
आता मधु मदिर समीर ;
टकराती होगी अब उन में
तिमिंगलों की भीड़ अधीर ।

देव कामिनी के नयनों से
जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी, अब वहाँ हो रही
प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि ।

वे अम्लान कुसुम सुरभित,
मणि रचित मनोहर मालायें ;
बनी शृंखला, जकड़ीं जिनमें
विलासिनी सुर बालायें ।

देव-यजन के पशु यज्ञों की
वह पूर्णाहुति की ज्वाला ;
जलनिधि में बन जलती कैसी
आज लहरियों की माला !

उनको देख कौन रोया यों
अन्तरिक्ष में बैठ अधीर !
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय
यह प्रालेय हलाहल नीर !

हा-हाकार हुआ क्रन्दनमय
कठिन कुलिश होते थे चूर ;
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव
बार बार होता था क्रूर ।

दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के !
सघन गगन में भीम प्रकंपन
झंझा के चलते झटके ।

अंधकार में मलिन मित्र की
धुँधली आभा लीन हुई ;
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा
स्तर-स्तर जलती पीन हुई।

पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।

बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी ;
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी।

धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निश्वास ;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।

सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिन्धु के, विचलित सी ;
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी,
ऊभ-चूभ थी विकलित सी।

वेला क्षण-क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ ;
उदधि डुबाकर अखिल धरा को
बस मर्यादा हीन हुआ।

करका क्रन्दन करती गिरती
 और कुचलना था सब का;
पंच भूत का यह ताण्डवमय
 नृत्य हो रहा था कब का।

× × ×

"ओ जीवन की मरु मरीचिका,
 कायरता के अलस विषाद!
अरे! पुरातन अमृत! अगतिमय
 मोह मुग्ध जर्जर अवसाद।

मौन! नाश! विध्वंस! अँधेरा!
 शून्य, बना जो प्रगट अभाव;
वही सत्य है, अरी अमरते!
 तुझ को कहाँ वहाँ अब ठाँव।

मृत्यु अरी चिर-निद्रे! तेरा
 अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनंत में लहर बनाती
 काल-जलधि की-सी हलचल।

महानृत्य का विषम सम, अरी
 अखिल स्पन्दनों की तू माप,
तेरी ही विभूति बनती है
 सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

अन्धकार के अट्टहास-सी,
 मुखरित सतत चिरन्तन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू,
 यह सुन्दर रहस्य है सत्य।

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
 व्यक्त नील घन माला में,
सौदामिनी-संधि-सा सुन्दर
 क्षण भर रहा उजाला में"।

———

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई ;
उधर पराजित काल-रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से ;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में
शरद् विकास नये सिर से।

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग ;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से ;
जगीं वनस्पतियां अलसाईं
मुख धोती शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने ;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार बार जाती सोने।

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी ;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी।

देखा मनु वह अति रंजित
विजय विश्व का नव एकान्त;
जैसे कोलाहल सोया हो
हिम शीतल जड़ता-सा श्रांत।

इन्द्रनील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका;
आज पवन मृदु साँस ले रहा
जैसे बीत गया खटका।

वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज;
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किस के शासन में अम्लान?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा
जिस में ये सब विकल रहे;
अरे! प्रकृति के शक्ति चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे।

विकल हुआ-सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले ;
हाँ, कि गर्व-रथ तुरंग सा ;
जितना जो चाहे जुत ले।

"महानील इस परम ब्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युतकण
जिसका करते से सन्धान !

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए ;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ।

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान"—
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

———

रामधारी सिंह 'दिनकर'

परिचय :

जन्म सं० १९६५ मृत्यु सं० २०३१

हिन्दी के उच्च कवि श्री दिनकर जी नवयुग की नूतन क्रांति के अमर गायक हैं। इनका जन्म मेमरिया गाँव, ज़िला मुंगेर (बिहार) में हुआ। बाल्यकाल में ही काव्यकला में इनकी प्रतिभा के उन्मेष प्रस्फुटित होने लगे थे। जिससे विद्यार्थी जीवन में ही इन्होंने 'वीर बाल' और 'प्राण-भंग' दो काव्यों का निर्माण किया। तत्पश्चात् 'रेणुका', 'हुँकार' आदि आदि रचनाओं ने हिन्दी जगत् में आपकी ख्याति को अधिक विस्तृत कर दिया।

दिनकर जी क्रांति-दर्शी कवि हैं। इनके प्रिय विषय हैं: इतिहास, राजनीति तथा दर्शन। इनके काव्यों में प्राणों की झंकार, जीवन-स्फूर्ति तथा प्रगति का प्रवाह छलक उठा है।

साहित्य-क्षेत्र में कवि होने के साथ आप इतिहासविद् और आलोचक के रूप में भी विख्यात हैं। विद्रोह, शुद्ध मानवता और राष्ट्रीयता के भाव इनकी रचनाओं में अधिक निखर पड़े हैं, जिनमें विश्वबन्धुत्व की भावना ओत-प्रोत है। क्रांति युग का प्रतिनिधित्व करने वाली इन रचनाओं में राष्ट्रीय गौरव तथा स्वाधीनता संग्राम की परम्परा की झंकार भी मुखरित हो उठी है; जिसमें अतीत गौरव की स्मृति के साकार दर्शन भी होते हैं। आपकी प्रकाशित रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

रेणुका, हुँकार, रसवंती, सामधेनी, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र; रश्मिरथी, नीलकुसुम, नीम के पत्ते, दिल्ली, उर्वशी, (कविता संग्रह); मिट्टी की ओर, अर्द्धनारीश्वर (आलोचना)।

भारतीय सरकार से कुरुक्षेत्र महाकाव्य पर २०००) का पुरस्कार भी प्राप्त कर चुके हैं।

'संस्कृति के चार अध्याय' दो-तीन वर्ष पूर्व लिखी हुई इनकी रचना विशेष रूप से प्रशंसित हुई है। आपको राजभाषा आयोग का सदस्य भी मनोनीत किया गया था और आप राज्य सभा के सदस्य एवं भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार भी रहे हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय पर' साहित्य अकादमी का ५०००) का पुरस्कार और उर्वशी पर भारतीय ज्ञान पीठ का एक लाख रु० का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ।

'कुरुक्षेत्र' के विषय में :

कुरुक्षेत्र वर्तमान बौद्धिक युग के महाकाव्यों में चिन्तन की आधार-शिला पर निमित एक उत्कृष्ट रचना है। लेखक ने इतिहास तथा पौराणिक पृष्ठ-भूमि पर वर्तमान को सुन्दर शब्दों में मुखरित किया है। प्रस्तुत रचना में भाषा, प्रवाह, भावों की नूतन झंकार और विचारों में वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व—इन सब का सुन्दर समन्वय है। कुरुक्षेत्र को पढ़ते ही महा-भारत युद्ध की भयंकरता और उसका साकार रूप आँखों के सामने नाच उठता है। महाभारत युद्ध को लक्ष्य बनाकर कवि ने युग-क्रांति की भाव-नाओं का रूप बड़े कलात्मक ढंग से इस रचना में प्रकट किया है। साथ ही अन्याय, दम्भ और शोषण का अन्त करने के लिये युद्ध की अनिवार्यता पर भी विचार किया है। पुरातन कथा का आश्रय लेकर कवि ने उसमें युग की नवीन प्रवृत्तियों को फूँक दिया है

'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य के षष्ठ सर्ग की सामयिक विशेषताएँ देखते हुए हमने इसे प्रस्तुत संकलन में स्थान दिया है। इसमें कवि ने मानव के सुखमय भविष्य की कल्पना को जन्म देकर युग के अन्त तथा मानव मात्र की आन्तरिक शान्ति की कामना प्रकट की है। कवि की दृष्टि में यदि मनुष्य कुत्सित कर्मों का त्याग करदे तो वह सुख तथा आत्म शान्ति से अनुप्राणित होकर जी उठेगा। वर्तमान युग के वैज्ञानिक चमत्कारों की चकाचौंध की अपेक्षा पारस्परिक प्रेम और सद्भावना में ही सच्चा सुख है।

विश्व में वासना की रात छाई हुई है। इस वैज्ञानिक अंध निशा में भूलकर मानव निरुद्देश्य भटक रहा है। उसकी बुद्धि में भले ही आकाश

की गंध है पर शरीर रुधिर से सना हुआ है। मनुष्य वचन से देवता लगता है पर कर्म से वह पशु है।

यह मनुष्य जिसका यान आकाश को भेद रहा है, जिससे परमाणु काँपते हैं, पर्वत, सिन्धु, धरा और आकाश जिससे डरते हैं और जो सृष्टि का शृङ्गार है आज शृगालों और कुक्कुरों से भी हीन बना है। विश्व-प्रेम, साम्य-भाव, विवेक और सच्ची मनुष्यता ही इसे मानव बना सकती है। मनुष्य की महत्ता उसके बढ़ते हुए इस भौतिक विज्ञान से नहीं अपितु प्राणों में बहती हुई प्रणय की वायु, स्नेह के आँसू और दिव्य भावना से है।

———

कुरुक्षेत्र

षष्ठ सर्ग से

धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान् ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?
है बहुत बरसी धरिणी पर अमृत की धार,
पर, नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार।
भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम,
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम;
भीष्म हों अथवा युधिष्ठर, या कि हों भगवान्,
बुद्ध हों कि अशोक, गान्धी हों कि ईसु महान्;
सिर झुका सबको, सभी को श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुःख दाह,
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह,
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान
खोजता चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान;
शील से सुलझा न सकता आपसी व्यवहार,
दौड़ता रह रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

पूर्व युग सा आज का जीवन नहीं लाचार,
आ चुका है दूर द्वापर से बहुत संसार;
यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण समर्थ;
खुल गए हैं गूढ़ संसृति के अमित गुरु अर्थ।
चीरता तम को, सँभाले बुद्धि की पतवार,
आ गया है ज्योति की नव भूमि में संसार।

आज की दुनिया विचित्र नवीन;
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन।
हैं बँधे नर के करों में वारि, विद्युत्, भाप,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप।
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित, गिरि, सिन्धु, एक समान।

शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्व हैं मनुज कार्य;
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश,
और करता शब्द गुण अम्बर वहन संदेश।
नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल।

यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास !
चरण-तल भू-गोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश !
किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निश्शेष;
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुःखी हो देवता चीत्कार।

चाहिये उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम-सी कोई मुलायम चीज़,
ताप पा कर जो उठे मन में पसीज-पसीज;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार;
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार;
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुस्कान;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान,
रंग में घुलता हुआ खिलतीं कली का राज;
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज़;
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर,
फूल की, रस में बसी भीगी हुई जंजीर।

धूम, कोलाहल, थकावट धूल के उस पार,
शीत जल से पूर्ण कोई मन्दगामी धार;
वृक्ष के नीचे जहाँ मन को मिले विश्राम,
आदमी काटे वहाँ कुछ छुट्टियाँ, कुछ शाम,
कर्म-संकुल लोक-जीवन से समय कुछ छीन,
हो जहाँ पर बैठ नर कुछ पल स्वयं में लीन—
फूल सा एकान्त में उर खोलने के हेतु,
शाम को दिन की कमाई तोलने के हेतु।
ले चुकी सुख भाग समुचित से अधिक है देह,
देवता हैं माँगते मन के लिये लघु गेह।

हाय रे मानव, नियति का दास!
हाय रे मनु पुत्र, अपना आप ही उपहास!

प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत,
सिन्धु से आकाश तक सब को किये भयभीत;
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय,
चीरता परमाणु की सत्ता असीम, अजेय,
बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय?
लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ?
सुन रहा आकाश चढ़ ग्रह-तारकों का नाद;
एक छोटी बात ही पड़ती न मुझ को याद।
एक छोटी एक सीधी बात,
विश्व में छाई हुई है वासना की रात।
वासना की यामिनी, जिसके तिमिर से हार,
हो रहा नर भ्रान्त अपना आप ही आहार;
बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच,
यह वचन से देवता, पर कर्म से पशु नीच।
यह मनुज,
जिसका गगन में जा रहा है यान,
काँपते जिसके करों को देख कर परमाणु।
खोल कर अपना हृदय गिरि, सिन्धु, भू, आकाश,
हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
खुल गए परदे, रहा अब क्या यहाँ अज्ञेय!
किन्तु नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जेय,
सोचने को और करने को नया संघर्ष,
नव्य जय का क्षेत्र, पाने को नया उत्कर्ष।

पर धरा सुपरीक्षिता, विश्लिष्ट स्वाद-विहीन;
यह पढ़ी पोथी न दे सकती प्रवेग नवीन;
एक लघु हस्तामलक यह भूमि-मण्डल गोल,
मानवों ने पढ़ लिये सब पृष्ठ जिसके खोल।
किन्तु नर-प्रज्ञा सदा गतिशालिनी उद्दाम,
ले नहीं सकती कहीं रुक एक पल विश्राम।
यह परीक्षित भूमि, यह पोथी पठित, प्राचीन,
सोचने को दे उसे अब बात कौन नवीन?
यह लघु गृह भूमि-मण्डल, व्योम यह संकीर्ण,
चाहिये नर को नया कुछ और जग विस्तीर्ण।

घुट रही नर-बुद्धि की है सांस,
चाहती वह कुछ बड़ा जग, कुछ बड़ा आकाश।
यह मनुज, जिसके लिये लघु हो रहा भूगोल;
अपर-ग्रह जय की तृषा जिस में उठी है बोल।
यह मनुज विज्ञान में निष्णात,
जो करेगा स्यात् मङ्गल और विधु से बात।

यह मनुज ब्रह्माण्ड का सबसे सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।
यह मनुज, जिसकी शिखा उद्दाम,
कर रहे जिसको चराचर भक्ति-युक्त प्रणाम।
यह मनुज, जो सृष्टि का शृङ्गार।
ज्ञान का, विज्ञान का, आलोक का आगार।

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों, कुक्कुरों से हीन,
हो, किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।

देह की लड़ती नहीं, हैं जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला-विज्ञान।
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।
यह मनुज जो ज्ञान का आगार,
यह मनुज, जो सृष्टि का शृङ्गार।
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो विचारो कृत्य।
यह मनुज, संसार-सेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाखण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान।

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है श्रेय,
पर, न यह परिचय मनुज का यह न इसका ज्ञेय।
श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत;
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत;
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान,
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी वही विद्वान्,
और मानव भी वही।

जो जीव बुद्धि अधीर,
तोड़ता अणु ही, न इस व्यवधान की प्राचीर।
वह नहीं मानव; मनुज से उच्च, लघु या भिन्न,
चित्र-प्राणी है किसी अज्ञात ग्रह का छिन्न।
स्यात्, मंगल या शनिश्चर लोक का अवदान;
अजनबी करता सदा अपने ग्रहों का ध्यान।
रसवती भू के मनुज का श्रेय,

यह नहीं विज्ञान, विद्या बुद्धि यह आग्नेय;
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप,
भ्रान्त पथ पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप।
भ्रमित प्रज्ञा का कुतुक यह इन्द्र-जाल विचित्र,
श्रेय मानव के न, आविष्कार ये अपवित्र।

सावधान मनुष्य यदि विज्ञान है तलवार।
तो इसे दे फेंक, तज कर मोह, स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान;
फूल-काँटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
नहीं यह विज्ञान कटु आग्नेय।
श्रेय उसका, प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका, भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत् में जागरण का ज्ञान,
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण अभियान।
यजन, अर्पण, आत्मसुख का त्याग,
श्रेय मानव का तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि मन्थन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत,
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।

श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सबको सहज जिसका रुचिर अवदान।

श्रेय वह नर-बुद्धि का शिव रूप आविष्कार,
हो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख-समृद्धि-विधान में नर के, प्रकृति झुक जाय।

श्रेय होगा मनुज का समता-विषयक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्म-दीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास—
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन,
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
छलकता होगा सभी नर का यहाँ सन्तोष।
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जब कि होगी सत्य ही वसुधा सुधा से युक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल,
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध।

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान्?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण?

R. C

———

उत्तरार्ध

•

विविध

महादेवी वर्मा

परिचय :

जन्म सं० १९६४

आपका जन्म फर्रुखाबाद में हुआ है। आपकी पहली रचना जब प्रकाशित हुई तो आपकी आयु बीस वर्ष की थी। आपने 'चाँद' पत्रिका का भी कुछ समय तक सम्पादन किया। छायावादी कवियों में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी कविताओं में अपार करुणा, व्यापक वेदना और सहज आत्म-निवेदन होता है। आपको गीतिकाव्य की परिपुष्ट और प्रांजल शैलीकार माना जाता है। इसके अतिरिक्त आप प्रौढ़, निर्दोष हिन्दी-गद्य की अन्यतम लेखिका भी हैं। संस्करण और रेखा-चित्रों के लेखन में इनको अपूर्व सफलता मिली है। आप संगीत और चित्रकला में भी प्रवीण हैं। इस समय प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या हैं। कुछ समय पूर्व आपने 'साहित्य-संसद' नाम से एक संस्था की स्थानपा की।

इनके प्रमुख ग्रन्थ : नीहार, रश्मि, नीरजा, दीपशिखा, शृंखला की कड़ियाँ, अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखायें, पथ के साथी, क्षणदा तथा विवेचनात्मक गद्य आदि हैं।

इनको हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा "विद्या-वाचस्पति" तथा राष्ट्रपति द्वारा "पद्म विभूषण" पदक प्राप्त हुआ है।

गीत

(१)

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में ;
सजल श्यामल मन्थर मूक सा

तरल अश्रु विनिर्मित गात ले ;
नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

(२)

आ मेरी चिर मिलन-यामिनी !
तममयि ! धिर आ धीरे-धीरे,
आज न सज अलकों में हीरे ;
चौंका दें जग श्वास न सीरे ;
हौले झरें शिथिल कवरी से—
गूँथे हरशृंगार कामिनी !

हौले डाल पराग-बिछौने ;
आज न दे कलियों को रोने ;
दे चिर चंचल लहरें सोने,
जगा न निद्रित विश्व ढालने
विधु प्याले मे मधुर चाँदनी !

परिमल भर लावे नीरव घन ;
गले न मृदु उर आँसू बन वन,
हो न करुण पी पी का क्रन्दन ;
अलि, जुगनू के छिन्न हार को
पहिन न विहँसे चपल दामिनी !

अपलक हैं अलसाये लोचन
मुक्ति बन गये मेरे बन्धन ;
है अनन्त अब मेरा लघु क्षण ;
रजनि ! न मेरी उर कम्पन से
आज बजेगी विरह-रागिनी !

तम में हो चल छाया का क्षय ;
सीमित का असीम में चिर लय ;
एक हार में हों शत शत जय,
सजनि ! विश्व का कण-कण मुझको
आज कहेगा चिर सुहागिनी !

(३)

तुम्हें बाँध पाती सपने में !
तो चिर जीवन-प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में !

पावस-घन-सी उमड़ बिखरती
शरद निशा-सी नीरव घिरती ;

धो लेती जग का विषाद
ढुलते लघु आँसू-कण अपने में !
तुम्हें बाँध पाती सपने में !

मधुर राग बन विश्व सुलाता ;
सौरभ बन कण-कण बस जाती ;

भरती मैं संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में !
तुम्हें बाँध पाती सपने में !

सबकी सीमा बन, सागर सी ;
हो असीम आलोक-लहर सी ;

तारोंमय आकाश छिपा
रखती चंचल तारक अपने में !
तुम्हें बाँध पाती सपने में !

शाप मुझे बन जाता वर सा ;
पतझर मधु का मास अजर सा ;

रचती कितने स्वर्ग, एक
लघु प्राणों के स्पन्दन अपने में !
तुम्हें बाँध पाती सपने में !

साँसें कहतीं अमर कहानी ;
पल बनता अमिट निशानी ;

प्रिय ! मैं लेती बाँध मुक्ति
सौ सौ लघुतम बन्धन अपने में
तुम्हें बाँध पाती सपने में !

(४)

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !

युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल ;
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूप बन ;
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन ;

दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल !
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझ से ज्वाला-कण ;
विश्व शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल' !
सिहर सिहर मेरे दीपक जल !

जलते नभ में देख असंख्यक ;
स्नेह-हीन नित कितने दीपक ;
जलमय सागर का उर जलता ;
विद्युत् ले घिरता है बादल !
विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम ;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल !
बिखर बिखर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुगम न तू बुझने का भय कर ;
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल ?
सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन ;
मैं दृग के अक्षय कोषों से
तुझ में भरती हूँ आँसू-जल
सजल सजल सेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर ;
खेलेंगे नव खेल निरन्तर ;
तम के अणु अणु में विद्युत्-सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल !
सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय ;
वह समीप आता छलनामय ;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

———

सुमित्रानंदन पन्त

परिचय :

पंतजी का जन्म प्रकृति के सुरम्य स्थल अल्मोड़ा जिला में हुआ है। प्रकृति के अंचल में जन्म लेने और पलने के कारण आपका नाम ही "प्रकृति का सुकुमार कवि' पड़ गया।

आपकी 'वीणा' से लेकर 'गुंजन' तक की रचनाएँ छायावाद का विशुद्ध रूप लेकर चली हैं। गान्धीवाद और समाजवाद का प्रभाव पड़ने के कारण कुछ समय इन्होंने प्रगतिवादी रचनाएँ कीं। वाद में आपने राजनीति से सांस्कृतिक अभ्युत्थान को महत्त्वपूर्ण समझा। आपने कहा है :—

'राजनीति का प्रश्न नहीं है आज जगत् के सम्मुख,
एक वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित।'

आप पर श्री रामकृष्ण परमहँस एवं स्वामी विवेकानन्द का भी प्रभाव पड़ा है। आप स्वामीजी के इस कथन से कि—'मैं यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ' पूर्णतया सहमत हैं।

बाद में उन पर योगी अरविन्द के जीवन-दर्शन का प्रभाव पड़ा और 'उत्तरा' जैसा काव्य-ग्रंथ उस जीवन-दर्शन का संकेत करता है। पंतजी अरविन्दजी की भाँति विश्वास करते हैं कि इस समय संक्रान्ति काल है और एक स्वर्णयुग आ रहा है, जबकि मानव 'अति-मानव' बनेगा।

आजकल पंतजी आकाशवाणी के भारतीय भाषाओं के साहित्यिक कार्यक्रमों के प्रमुख परामर्शदाता तथा साहित्य अकादमी के हिन्दी परामर्श-दाता बोर्ड के सदस्य हैं।

आपके प्रकाशित काव्य-ग्रन्थ : ग्रंथि, वीणा, पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, मधु ज्वाला, ज्योत्सना, उत्तरा, अतिमा, चिदंबरा एवं लोकायतन। चिदंबरा पर आपको भारतीय ज्ञानपीठ का एक लाख रुपये का पुरस्कार मिल चुका है। इससे पूर्व आपको साहित्य अकादमी ने भी ५००) का पुरस्कार देकर सम्मानित किया है।

———

विहग के प्रति

विजन वन के ओ विहग कुमार,
आज घर-घर रे तेरे गान ;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान।

सहज चुन-चुन लघु तृण, खर, पात,
नीड़ रच-रच निशि-दिन सायास,
छा दिये तूने, शिल्पि सुजान,
जगत् की डाल-डाल में वास !

मुक्त पंखों में उड़ दिन-रात,
सहज स्पंदित कर जग के प्राण,
शून्य नभ में भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान !

सुप्त जग में गा स्वप्निल गान
स्वर्ण से भर दी प्रथम प्रभात,
मंजु गुंजित हो उठा अजान
फुल्ल जग-जीवन का जलजात !

श्रांत सोती जब संध्या-वात,
विश्व-पादप निश्चल, निष्प्राण,—
जगाता तू पुलकित कर पात
जगत्-जीवन का शतमुख गान !

छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बँध जग के सानंद,
भर दिये कलरव से दिशि-आस
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद !

रिक्त होते जब-जब तरु वास
रूप धर तू नव-नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास
विश्व के अक्षय-वट की डाल !

मुग्ध रोओं में मेरे, प्राण !
बना पुलकों के सुख का नीड़,
फूँकता तू प्राणों में गान
हृदय मेरा तेरा आक्रीड़।

दूर वन के ओ राजकुमार !
अखिल उर-उर में तेरा गान,
मधुर इन गीतों से, सुकुमार,
अमर मेरे जीवन ओ' प्राण !

मानव

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने ;
मेरे मानस के स्पंदन,
प्राणों के चिर पहचाने !

मेरे विमुग्ध-नयनों की
तुम कान्त-कनी हो उज्ज्वल ;
सुख के स्मिति की मृदु-रेखा,
करुणा के आँसू कोमल !

सीखा तुमसे फूलों ने
मुख देख मंद मुस्काना,
तारों ने सजल-नयन हो
करुणा-किरणें बरसाना !

सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी
मृदु राग प्रणय के गाना !

पृथ्वी की प्रिय तारावली !
जग के वसन्त के वैभव !
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव !

मेरे मन के मधुवन में
सुखमा के शिशु ! मुस्काओ,
नव नव साँसों का सौरभ
नव सुख का सुख बरसाओ !

मैं नव नव उर का मधु पी,
नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबा कर
जीवन-मधु में धुल जाऊँ !

—'गुंजन' से

नव मानव

ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव !
संपर्कज रे तेरा पावक
चेतना शिखा में उठा धधक
इसको मन नहीं सकेगा ढक।

यह ज्वाला जग जीवनदायक,—
स्वप्नों की शोभा से अपलक
मानस भू सुलग रही धक्-धक्

ओ नव्य युगागम के अनुभव !
नव ऊषा सा स्वर्णाभ वरण,
वह शक्ति उतरती ज्योति चरण,
उर का प्रकाश नव कर वितरण !

नव शोणित से उर्वर भू मन,
शोभा से विस्मित कवि लोचन,
अब धरा चेतता नव चेतन !

ओ अंतरज्ञान नयन वैभव !
भू तम का सागर रहा सिहर
जन मन पुलिनों पर बिखर-बिखर
अब रश्मि शिखर नाचतीं लहर !

तिरते स्वप्नों के पोत अमर
देवों का स्वर्णिम वैभव हर,
नव मानवीय द्रव्यों से भर !

ओ गूँज रहा अम्बर में रव,—
मैं लोक-पुरुष मैं युग-मानव,
मैं ही सोया भू पर नीरव
मेरे ही भू रज के अवयव !

अपने प्रकाश से कर उद्भव
मैं ही धारण करता हूँ भव,
नव स्वनों का रच मनोविभव !
जय त्रिनयन, युग संभव मानव

———

उद्बोधन

मानव भारत हो नव भारत,
जन मन धरणी सुन्दर,
नवल विश्व हो वह आभा-रत
जाति पाँति देशों में खडित भू जन,
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन,
नव मनुष्यता में हों मज्जित
जीर्ण युगों के अन्तर,
विचरें मुक्त हृदय, अंतःस्मित,
प्रीति युक्त नारी-नर!

लोक चेतना ज्वार बढ़ रहा प्रतिक्षण
स्वप्नों के शिखरों पर कर युग नर्तन
तड़क रहीं हथकड़ियाँ झन झन
मन के पाश भयंकर
अग्नि-गर्भ-युग-शिखर विकट
फटने को है, छोड़ो डर!

आज समापन युग का वृत्त पुरातन,
भू पर संस्कृति चरण धर रही नूतन,
रँग-रँग की आभा-पंखड़ियाँ
बरसाता झुक अम्बर,
खोलो उर के रुद्ध द्वार जन,
हँसता स्वर्ण युगान्तर!

विश्व मनः संगठन हो रहा विकसित
जन जीवन संचरण ऊर्ध्व, भू विस्तृत
नव्य चेतना केतु फहरता,
सत रँग द्रवित दिगंतर;
आदर्शों के पोत बढ़ रहे,
पार अतल भव सागर !

स्वर्ग भूमि हो भू पर भारत,
जन मय धरणी सुन्दर,
अन्तर ऐश्वर्यों से मंडित
मानव हो देवोत्तर !

—'उत्तरा' से

———

'अज्ञेय'

परिचय :

जन्म सन् १६११ ई०

आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' है आपका जन्म गोरखपुर जिले के कसिया ग्राम में हुआ है। १८ वर्ष की उम्र में बी० एस-सी० में पढ़ते हुए क्रांतिकारी आन्दोलन में गिरफ्तार हुए। आपका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा से युक्त है। इनकी चित्रकला, मूर्तिकला, पुरातत्व, विज्ञान और भ्रमण में विशेष रुचि है। अँग्रेजी के भी आप सिद्ध-हस्त कवि और लेखक हैं। 'विशाल भारत' और 'प्रतीक' का आपने सफल सम्पादन किया है। आप कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक, निवन्ध-लेखक और साहित्य-विवेचक के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं। 'यूनेस्को' की छात्र-वृत्ति पर यूरोप तथा सुदूर पूर्व की अध्ययन-यात्रा कर चुके हैं। साहित्य अकादमी द्वारा ५०००) रु० का पुरस्कार भी प्राप्त किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक "दिनमान" के मुख्य सम्पादक हैं।

आपकी प्रकाशित रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

कविता :—भग्नदूत १६३३, चिन्ता १६४२, इत्यलम् १६४६, हरी घास पर क्षण भर १६४७, बावरा अहेरी १६५४, प्रिज़न डेज़ एण्ड अदर पोइम्ज़ (अंग्रेज़ी) १६४६, 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' १६५७।

कहानियाँ :—विपथगा '३७, परम्परा '४४, कोठरी की बात '४५, शरणार्थी '४८, जयदोल '५१।

उपन्यास :—शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग '४१, द्वितीय भाग '४४; नदी के द्वीप '५२।

भ्रमण वृत्तान्त :—अरे यायावर रहेगा याद '५३।

प्रस्तुत संकलन में हमने अज्ञेयजी की तीन चुनी हुई रचनाओं को स्थान दिया है और हिन्दी साहित्य के छात्र-छात्राओं को प्रयोगवादी धारा से परिचित होने का अवसर दिया है। आजकल यद्यपि उक्त धारा की कहीं-कहीं से कटु आलोचना होती है किन्तु इस धारा में एक से एक बढ़िया रचनायें रची जा रही हैं। अज्ञेयजी इस नई धारा के जहाँ प्रवर्तक हैं वहाँ एकमात्र प्रतिनिधि कवि भी कहे जा सकते हैं। इनकी कविताओं में निरन्तर विकासमान एक विदग्ध कवि-मानस एवं अनुभूति-प्रवण हृदय की भाव-सम्पदा, अभिव्यंजना तथा बौद्धिक चेतना का प्रचुर परिचय मिलता है। हिन्दी के सम-सामयिक कवियों में नये अर्थबोध, काव्य-सौष्ठव और शब्दों की ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से 'अज्ञेय' का स्थान बहुत ऊँचा है।

———

बर्फ की झील

चट-चट-चट कर सहसा तड़क गये हिम-खंड
जमे सरसी के तल पर :
लुढ़क-पुढ़क कर स्थिर......
बसन्त का आना
—यद्यपि पहले नहीं किसी ने जाना—
होता रहा अलक्षित।
नई किरण ने छुए शृंग : हो गये सुनहले
बहते सारे हिम द्वीप। हाँ, गाओ,
'हेम-किरीटी राजकिशोरों का दल
नव वसन्त के अभिनन्दन को मचल रहा है।'
गाओ, गाओ, गान नहीं झूठा हो सकता !
गाओ !
पर ये हेम-मुकुट हैं केवल :
दूर सूर्य्य के लीला-स्मित से शोभन
कौतुक-पुतले।
नीचे की हिम शिला पिघल कर जिस दिन
स्वयं मिलेगी सरसी-जल में
नव-वसन्त को उस दिन
उस दिन, उस दिन
मेरा शीश झुकेगा !
क्योंकि तपस्या
चमक नहीं है,
वह है गलना :
गल कर मिट जाना—मिल जाना—
पाना।

—'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' से

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी !
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन अनगिन युगों के बाद !)
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली—
'अरे यायावर ! रहेगा याद !'

—'हरी घास पर क्षण भर' से

मरु और खेत

मरु बोला :
हाय यह हास्यास्पद ममता ?
ओ रे खेत, किस हेतु यह यत्न, यह उथल-पुथल
यह—कह ही डालूँ—आडम्बर ?
देखना
जब बहेगी लू
जब पड़ेगा पाला
जब आयेगी बर्फ की बछियों से हाड़ों को भेदती-सी
उत्तर की निष्ठुर हवा,

झुलसेंगे, पाले से मरेंगे तुम्हारे पात पात
अंकुर,
तब कैसा दर्द होगा !
मेरी—मुझ अचंचल की ओर देखो ; मेरी यह सीख है :
ममता ही सर्व-दुःख-मूल है
बीज-मात्र वेदना का बीज है !
हँसा खेत : मरु काका, ठीक है।
होगा वही
लू बहेगी
पाला भी पड़ेगा
दुःख होगा ही।
किन्तु जब मेरी छाती फोड़ कर अंकुर एक फूटेगा
और भोली गर्व-भरी आस्था से निहारेगा,
तब—उस एकमात्र क्षण में—
किन्तु काका, आप से क्या कहूँ और......
नव-सर्जना में जो
अपने को होम कर होते हैं आनन्द-मग्न
उनकी तो दृष्टि और होती है !

———

डॉ० धर्मवीर भारती

परिचय :

जन्म सन् १९२६ ई०

भारती की शिक्षा दीक्षा और काव्य-संस्कारों की प्रथम संरचना प्रयाग में हुई। उनके व्यक्तित्व और उनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के उच्छल और मानसिक स्वच्छन्द काव्य संस्कारों का काफी प्रभाव है। भारती के कवि की बनावट का सबसे प्रमुख गुण उनकी वैष्णवता हैं। पावनता और हल्की रोमांटिकता का स्पर्श और उनकी भीनी झनकार भारती की कविताओं में सर्वत्र पाई जाती है। इनका प्रथम काव्य-संग्रह 'ठण्डा लोहा' और प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' अत्यन्त लोकप्रिय हुए। इनके द्वारा लिखा हुआ प्रथम काव्य नाटक 'अन्धा युग' सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अलग रचना है। इनकी कविताओं की अलग और महत्त्वपूर्ण पहचान के कारण ही अज्ञेय ने उन्हें अपने द्वारा सम्पादित दूसरे सप्तक में संकलित किया। भारती ने बहुत अधिक नहीं लिखा। 'ठण्डा लोहा' के अतिरिक्त उनका मात्र एक ही कविता-संग्रह 'सात गीत वर्ष' अभी तक प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त लंबी कविता के क्षेत्र में राधा के चरित्र को लेकर 'कनुप्रिया' नामक उनकी कविता अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रयोग के स्तर पर 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' नामक एक सर्वथा नए ढंग का उपन्यास लिखा। 'चाँद और टूटे हुए लोग' तथा 'बन्द-गली का आखिरी मकान' उनके दो कथा-संग्रह हैं। इस समय वे प्रसिद्ध हिन्दी साप्ताहिक 'धर्मयुग' के सम्पादक हैं।

दू० न० सिंह

(१) कृषि

ये फसलें काटो.........
पिछले जमाने में
बीज जो बोये विषमता के
आज वही साँपों की खेती उग आई है !
धरती को फिर संवारो
क्यारी में बीज नए डालो
पसीने के, आँसू के
प्यार के हमदर्दी के
मेंड़ें मत बाँधो
भूमि सबकी,
दर्द सब का है।

(२) स्वास्थ्य

वे सब बीमार हैं
वे जो उन्माद ग्रस्त रोगी से
मंचों पर जाकर चिल्लाते हैं
बकते हैं
भीड़ में भटकते हैं
वात, पित्त, कफ के वाद
चौथे दोष अहम् से पीड़ित हैं !
बस्ती—बस्ती में
नये अहम् के अस्पताल खुलवाओ
वे सब बीमार हैं
डरो मत—तरस खाओ !

(३) यातायात

बिना किसी बाधा के
नित नयी दिशाओं में
जाने की
सुविधा दो
बिना किसी बाधा के
श्रम के पसीने से
सिंची हुई फसलों को
खेतों से आँतों तक जाने की
सुविधा दो
बिना किसी बन्धन के
हर चलते राही को
यात्रा में
अक्सर थक जाने पर
मनचाहे नये गीत गाने की
सुविधा दो
कभी-कभी अजब-सी रहस्यमय पुकारों पर
मन को अपरिचित नक्षत्रों की राहों में
जाकर खो जाने की सुविधा दो !

———

श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

परिचय :

जन्म सन् १९२७ ई०

इनका जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में हुआ। आपने डाँ० धर्मवीर भारती और श्री स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' जी की छत्र-छाया में रहकर अपनी काव्य-दृष्टि का निर्माण किया। उनकी कविताओं को पढ़कर अज्ञेय जी काफी प्रभावित हुए और उन्होंने 'तीसरा सप्तक' नामक काव्य-संग्रह में सक्सेना जी की कविताओं को संकलित किया। "आप में लोकोन्मुखता और व्यक्तिगत मुखर चिन्तन का काफी पुट मिलता है। उनकी कविताओं में व्यक्त यही मुखर चिन्तन उन्हें प्रायः रोमांटिक कवियों के निकट ले जाता हुआ लगता है। उनकी भाषा में एक सहज प्रवाह और कथन की भंगिमा में व्यंग्य का पुट तथा भीनी उदासी सर्वत्र पायी जाती है। 'तीसरा-सप्तक' में संकलित कविताओं के अतिरिक्त 'बाँस का पुल', 'एक सूनी नाव' और 'गर्म हवाएँ' नाम से अब तक तीन काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी मिली-जुली रचनाओं का प्रथम संग्रह 'काठ की घंटियाँ' काफी लोकप्रिय हुआ। उनकी कहानियों का एक संग्रह 'पागल कुत्तों का एक मसीहा' हाल में प्रकाशित हुआ है। इस समय सक्सेना जी प्रसिद्ध हिन्दी राजनीतिक साप्ताहिक 'दिनमान' के सम्पादकीय विभाग से सम्बन्धित है। उन्होंने 'बतूता का जूता' नाम से बच्चों के लिए अनूठी कविताओं का एक संकलन भी प्रकाशित किया है, जो उनके किसी भी काव्य-संग्रह से अधिक महत्त्व-पूर्ण और उल्लेखनीय है।

—दू० ना० सिंह

सूखे पीले पत्ते

तेजी से जाती हुई कार के पीछे
पथ पर गिरे पड़े
निर्जीव सूखे पीले पत्तों ने भी
कुछ दूर दौड़कर गर्व से कहा—

'हम में भी गति है,
सुनो, हम में भी जीवन है,
रुको–रुको, हम भी
साथ चलते हैं
हम भी प्रगतिशील हैं।'

लेकिन उनसे कौन कहे—
प्रगति, पिछलग्गूपन नहीं है
और जीवन, आगे बढ़ने के लिए
दूसरों का मुँह नहीं ताकता।

(२) कलाकार और सिपाही

वे तो पागल थे
जो सत्य, शिव, सुन्दर की खोज में,
अपने—अपने सपने लिए,
नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में,
फटे—हाल, भूखे—प्यासे,
टकराते फिरते थे,
अपने से जूझते थे,

आत्मा की आज्ञा पर,
मानवता के लिए
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काट कर,
मूर्त्तियाँ, मन्दिर और गुफाएँ बनाते थे।
किन्तु ऐ दोस्त।
इनको मैं क्या कहूँ
जो मौत की खोज में
अपनी—अपनी बन्दूकें, मशीनगनें लिए हुए,
नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में,
फटे—हाल, भूखे—प्यासे,
टकराते फिरते हैं,
दूसरों की आज्ञा पर
चन्द पैसों के वास्ते,
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काट कर,
रसद, हथियार, एम्बुलेंस, मुर्दा-गाड़ियों के लिए
सड़कें बनाते हैं।
वे तो पागल थे
पर इनको मैं क्या कहूँ?

— समाप्त —